तृतीय अध्याय

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता में दलित चेतना

समकालीन कविता में दलित कविता का उदय एक नई और महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति के रूप में हुआ। हिंदी दलित कविता ने समकालीन हिंदी कविता को एक नए स्वर से समृद्ध किया। समकालीन दलित कवियों के कविधर्म से दलित कविता के स्वरूप में कसाव आता गया। समय के साथ-साथ दलित कविता अपने अर्थ-बोध और शिल्प-विधान में भी विशिष्ट बनती गई। इन कविताओं में युगीन सरोकारों का निरूपण मिलता है एवं जाति से उठकर अपने सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति करती नजर आती है।

दलित कविता हिंदी दलित साहित्य की एक सशक्त विधा है। हिंदी दलित कविता पारम्परिक हिंदी कविता से एकदम भिन्न है। इसकी प्राथमिकता न तो प्रेम-वर्णन है और न विरह-राग और न ही प्रकृति चित्रण। दलित कविता सदियों से शोषित और दमित जनों की आवाज़ है। यह मनुवादी संस्कृति और वर्ण-व्यवस्था के खिलाफ 'हल्ला बोल' है। यह 'अंधेरे के विरुद्ध' एक आंदोलन है। यह दलितों की पहचान और अस्मिता की कविता है। कँवल भारती दलित कविता का परिचय देते हुए कहते हैं - "दलित कविता उस तरह की कविता नहीं है, जिसे आमतौर पर कोई प्रेम या विरह में पागल होकर गुनगुनाने लगता है। यह वह कविता भी नहीं है, जो पेड़-पौधों, फूलों और नदियों, झरनों और पर्वतमालाओं की चित्रकारी में लिखी जाती है। यह किसी का शोक गीत और प्रशस्तिगान भी नहीं है। दरअसल यह वह कविता है, जिसे शोषित, पीड़ित, दलित अपने दर्द की अभिव्यक्ति करने के लिये लिखता है। यह वह कविता है, जिसमें दलित कवि अपने जीवन के संघर्ष को उतारता है। यह दमन, अत्याचार, अपमान और शोषण के खिलाफ युद्धगान है। यह स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व-भाव की स्थापना और लोकतंत्र की प्रतिष्ठा करती है, इसीलिए इसमें समतामूलक और समाजवादी समाज की परिकल्पना है। संक्षेप में, दलित कविता जाति और वर्ग-विहीन समाज की स्थापना करने वाली दलितों द्वारा लिखी गयी क्रांतिकारी कविता है।"[1] दलित कविता एक क्रांतिकारी आगाज़ है, जो लोकतांत्रिक समाज निर्माण में अपनी गहरी दखल रखती है। मानव-मूल्य इसका मुख्य सरोकार है। ये कविताएँ अपने में मानवीय वेदना और संवेदना को मुखरित करती हैं। दलित कविता 'कविता के नए प्रतिमान' गढ़ती है। मूल रूप में कहे तो कविता की 'आत्मा' दलित कविता में बसती है और कविता की प्रामाणिकता भी इसी में है। बकौल आशोक वाजपेयी -"कविता की प्रामाणिकता किसी विचार विशेष का अनुगमन करने में नहीं, मानवीय वेदना और संवेदना को मुखरित करने में है।"[2] इसी मानवीय वेदना और संवेदना का साहित्यिक रूप हिंदी दलित कविता है।

3.1 दलित कविता का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

हिंदी दलित कविता का इतिहास सौ साल पुराना है। आरंभिक काल से ही विभिन्न धाराओं ने विभिन्न रूपों में ब्राह्मणवादी संस्कृति और वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया है। प्रतिरोध का स्वर अनादि काल से ही सुनते आ रहे हैं। सबसे पहले महात्मा गौतम बुद्ध ने वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया। उन्होंने 'सुनीति' नामक भंगी को अपने संघ में सम्मिलित किया, जो उस समय और काल के लिहाज़ से एक क्रांतिकारी शुरूआत थी। महात्मा गौतम बुद्ध के बाद संस्कृत के कवि अश्वघोष ने अपना काव्य-ग्रंथ 'बज्रसूची' लिखकर जाति-वाद और वर्णवादी व्यवस्था पर कड़ा प्रहार किया। अश्वघोष और उनका काव्य-ग्रंथ 'बज्रसूची' पर दलित लेखक डॉ. तुलसीराम लिखते हैं –"बुद्धचरित के रचनाकार अश्वघोष पहले संस्कृत कवि थे, जिन्होंने ब्राह्मण वर्ण-व्यवस्था पर आक्रमण करते हुए 'बज्रसूचि' नामक काव्य-ग्रंथ लिखा। यद्यपि अश्वघोष ब्राह्मण बौद्ध थे फिर भी मैं उनकी पुस्तक 'बज्रसूची' को दलित साहित्य की रचना मानता हूँ।''[3] इसके बाद वर्णवाद और ब्राह्मणवाद के खिलाफ स्वर हमें सिद्धों और नाथों की वाणी में सुनाई देती हैं। लेकिन जैसे ही हम मध्यकाल में प्रवेश करते हैं तो वहाँ विरोध मुखर रूप में दिखाई देता है।

भक्तिकाल के संत कवियों में कबीर, रैदास, नामदेव, पीपा आदि ने समाज में फैली जाति-व्यवस्था का जोरदार खंडन किया। इन संत कवियों ने सबसे पहले साहित्य को समाजवाद से जोड़ा। कबीर और रैदास ने ब्राह्मणवादी समाज और व्यवस्था पर जमकर चोट की। कबीर ने जहाँ वर्ण-व्यवस्था, ब्राह्मण की सत्ता और ब्राह्मणों के शास्त्रों को नकारते हुए कहा -

"पाँड बूझि पियहू तुम पानी।

जिहि मिटिया के घर मँह बैठे, त यहँ सिस्ट समानी।

तेहि मिटिया के भाँडे पाँडे, बूझि पियहु तुम पानी।''[4]

तो वहीं रैदास को भी कहना पड़ा -

"धरम करम जानै नहीं मन मह जाति अभिमान।

ऐ सोउ ब्राह्मण सौ भलो रविदास श्रमिकहु जान।''[5]

इस तरह से देखें तो दलित साहित्य की जडें हमें कबीर और रैदास की वाणी में दिखाई देती हैं। बकौल प्रो. चमनलाल –"आधुनिक दलित साहित्य ने भी अपनी पहचान समाज के विकृत जातिगत

ढांचे के प्रति अपना आक्रोश जताकर की है। इस संदर्भ में आधुनिक दलित साहित्य की जड़ें कबीर और रैदास की वाणी में देखी जा सकती हैं। इसलिए इस तथ्य को यहाँ रेखांकित किया जा सकता है कि सही मायने में कबीर और रविदास हिंदी दलित साहित्य के अग्रदूत हैं। उत्तरी भारत के दलित साहित्य का आरम्भ कबीर और रविदास से माना जाना चाहिए और वहीं से दलित साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन किया जाना चाहिए।''[6] प्रो. चमनलाल ने बिल्कुल सही बात कही है। संतों में कबीर और रैदास ने जिस तरह जातिवाद और ब्राह्मणवादी संस्कृति का खंडन-मंडन किया, वह आज के दलित कवियों की कविताओं में भी उस रूप में नहीं दिखाई देता। लेकिन दलित आलोचक और लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि कबीर, रविदास या किसी भी संत कवियों को दलित साहित्य के अग्रदूत मानने के लिए कतई तैयार नहीं। 'दलित अस्मिता' के प्रवेशांक में अपने लेख 'हिंदी दलित कविता और संत साहित्य' में वे लिखते हैं –''मुस्लिम शासक के प्रभाव से उस काल में अनेक संत राष्ट्रीय फलक पर एक साथ उभरे, लेकिन मंदिर के दरवाजे उनके लिए बंद थे, जिन्हें खुलवाने के लिए संघर्ष करने के बजाय इन्होंने स्वयं को इस रास्ते से हटकर निर्गुण की ओर मोड़ दिया। जिसका असर यह हुआ कि समाज में एक अधिकार पाने की लड़ाई शुरू होनी चाहिए थी, वह नहीं हुई।''[7] यह शत प्रतिशत सही है कि संतों ने मंदिर प्रवेश के लिए उस रूप में कोई आन्दोलन नहीं किया जिस रूप में करना चाहिए था, लेकिन साथ में इस बात को भी नहीं नकारा जा सकता कि संतों का उद्देश्य मंदिर में प्रवेश पाना नहीं था। उनकी लड़ाई पहचान और अस्मिता की थी। इसके लिए संतों ने निर्गुण भक्ति धारा का सहारा लिया। बाद में जाकर यही नीति दलितों के पितामाह डॉ. अम्बेडकर ने भी अपनाई। उन्होंने नासिक में मंदिर प्रवेश आन्दोलन सिर्फ राजनैतिक मंच पर विश्व को दलितों की स्थिति दिखाने के उद्देश्य से किया था। 3 मार्च, सन् 1934 ई. को भाऊराव गायकवाड़ को पत्र में अम्बेडकर ने लिखा था –''मैंने मंदिर प्रवेश आन्दोलन इसलिए आरम्भ नहीं किया था कि दलित लोग उन देवताओं के पूजक बन जायें, जिन्होंने उन्हें पूजा करने से रोक दिया था। यह आन्दोलन इसलिए आरम्भ किया था कि मुझे लगता था कि मंदिर प्रवेश उन्हें हिंदू समाज का अनिवार्य अंग बना देगा। इस पहलू से अब तक देखने के बाद दलित वर्गों को हिंदू समाज की पूर्ण मरम्मत करने पर जोर देने की सलाह दूंगा। मैंने सत्यग्रह इसलिए भी आरम्भ किया था, क्योंकि मुझे यह लगा था कि दलितों को क्रियाशील बनने का यह बेहतर रास्ता था, जिसने उन्हें अपनी स्थिति का बोध कराया। पर, चूकि मैं मानता हूँ कि मैंने उस उद्देश्य को प्राप्त कर लिया है, इसीलिए अब मुझे मंदिर प्रवेश के लिए और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। मैं चाहता हूँ कि दलित वर्गों के लोग अब अपनी ऊर्जा और संसाधन राजनीति और शिक्षा पर केंद्रित करें और मुझे आशा है कि वे इन दोनों चीजों के महत्त्व को समझेंगे।''[8]

आधुनिक काल में कबीर और रैदास की परम्परा को हीरा डोम और अछूतानंद ने आगे बढ़ाया किया। हीरा डोम ने ‘अछूत की शिकायत’ कविता लिखकर समाज और साहित्य में दलितों की शिकायत दर्ज की। यह कविता सबसे पहले ‘सरस्वती’ पत्रिका में सन् 1914 ई. में छपी। यह 38 पंक्तियों की कविता भोजपुरी लोकशैली में लिखी गई है। इसके कुछ पंक्तियां उद्धृत हैं

“हमनी के राति दिन दुःखवा भोगत बानी,
हमनी के सहेबे से मिनती सुनाइबि।
हमनी के दुःख भगवनओं न देखताजे,
हमनी के कबले कलेसवा उठाइबि।,
डोम जानि हमनी के छुए से डरेइले।।
हमनी के राति दिन मेहनत करीलेजां,
दुइगो रुपयवा दरमहा में पाइबि।
ठाकुरे के सुख सेत घर में सुतल बानीं,
हमनी के जाति जोति खेतिया कमाइबि।’’[9]

प्रो. मैनेजर पांडेय ‘अछूत की शिकायत’ पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं –“दलित चेतना की ठीक-ठाक अभिव्यक्ति करने वाली रचना सबसे पहले सरस्वती में छपी थी।’’[10] लेकिन कँवल भारती इसपर संदेह व्यक्त करते हुए कहते हैं –“सरस्वती में प्रकाशित ’अछूत की शिकायत’ का ठीक-ठाक रचना समय क्या है? या यह हीरा डोम की ही रचना है, अथवा किसी अन्य लोककवि की, जिसे हीरा डोम ने प्रकाशनार्थ भेजा हो ? विचारणीय तथ्य यह भी है कि किसी रचना को पत्रिका में वही रचनाकार प्रकाशनार्थ भेज सकता है, जो पत्र-पत्रिकाओं के संसार से परिचित हो। यदि हीरा डोम ने सरस्वती को अपनी रचना प्रकाशनार्थ भेजी थी तो स्पष्ट है कवि पढ़े-लिखे थे और पत्रिकाओं के संसार से परिचित थे। तब यह नहीं हो सकता कि हीरा डोम ने सिर्फ यही एक गीत लिखा हो, उन्होंने और भी कविताएँ लिखी होंगी। वे कविताएँ कहाँ हैं? इसकी कोई जानकारी आज उपलब्ध नहीं हैं।’’[11]

हीरा डोम के बाद दूसरे महत्त्वपूर्ण दलित कवि अछुतानंद हरिहर हुए, जिन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से जातिवाद और छुआछूत के कर्मकांडों की कड़ा निंदा किया। उन्होंने दलितों को 'आदिहिंदू' घोषित करते हुए 'आदिहिंदू' नाम से दलित आन्दोलन छेड़ा, जो बाद में दलित आन्दोलन के लिए बहुत ही प्रभावशाली साबित हुआ। उन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से सीधा-सीधा ब्राह्मणवाद पर चोट किया-

"छूने से भी पाप मानता छाया से भी घबराता है

मुझे देखकर नाख सिकोड़ता, दूर हटा वह जाता है

हरिजन भी कहता मुझको हरि से विलग कराता है।''[12]

स्वामी अछूतानंद से प्रभावित और प्रेरित होकर बिहारी लाल हरित ने सन् 1938 ई. में 'जाटव भजनावली' काव्य-संग्रह प्रकाशित की। 'भीमायण', 'अछूतों का पैगंबर', 'जगजीवन ज्योति', 'झलकारी बाई' आदि उनकी महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं। जिस समय अम्बेडकर और गांधी के बीच शीत युद्ध चल रहा था, उस समय बिहारी लाल 'हरित' अछूतों का पैगंबर बनकर साहित्य में उभरे। उन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से दलितों की पीड़ा को अभिव्यक्त किया। उन्होंने सामंतवादी व्यवस्था की पोल खोली। सन् 1960 ई. के बाद दलित साहित्य को आगे बढ़ाने का काम चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु, राजवैद्य, माता प्रसाद, डॉ. गया प्रशांत आदि ने किया।

सन् 1970 ई. से सन् 2000 ई. तक इन बीस वर्षों में दलित कविताओं का सबसे ज्यादा संकलन प्रकाशित हुआ। इनमें 'पीड़ा जो चीख उठी' और 'दर्द के दस्तावेज' के नाम सबसे पहले आता है। 'पीड़ा जो चीख उठी' काव्य-संग्रह में पच्चीस कवियों की दो-दो कविताएँ संकलित हैं। हिंदी में 'पीड़ा जो चीख उठी' काव्य-संग्रह प्रथम दलित कविता का संकलन है, लेकिन समस्या इस बात की है कि इसका कोई संपादक नहीं है, इसी कारण डॉ. एन. सिंह द्वारा संपादित काव्य-संग्रह 'दर्द के दस्तावेज' को ही हिंदी दलित कविता का पहला संकलन माना गया है। 'दर्द के दस्तावेज' पर टिप्पणी करते हुए श्री राधेश्याम तिवारी लिखते हैं –"अनेक कवियों की कविताओं के इस संकलन का संपादक डॉ. एन. सिंह ने किया है। यह संग्रह दलित साहित्य के चयन की दिशा में एक स्मरणीय प्रयास है। संग्रह के कवि डॉ. प्रेमशंकर, डॉ. सुखबीर सिंह, डॉ. चंद्रकुमार वरठे, ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, डॉ. रामशिरोमणि 'होरिल', डॉ. दयानंद बटोही, डॉ. एन. सिंह, डॉ. भूपसिंह और रघुनाथ प्यास हैं।''[13] इसी दशक में दलित कविता का स्त्रीवादी रूप भी उभरकर सामने आया। सुशीला टाकभौरे, कावेरी, रजनी तिलक, रमणिका गुप्ता जैसी स्त्रीवादी कवयित्रीयों ने अपने पूरे दम-

खम से साहित्य में अपनी उपस्थिति दर्ज कराई। आलोचक डॉ. एन. सिंह हिंदी दलित कविता पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं –"हिंदी दलित कविता को पहचान के स्तर पर जिन कवियों ने स्थापित किया है, उनमें डॉ. सुखबीर सिंह, डॉ. प्रेमशंकर, डॉ. एन. सिंह, डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' तथा श्री ओमप्रकाश वाल्मीकि के नाम लिए जा सकते हैं। इनकी कविताओं में अनुभूति की गहनता और शिल्प की प्रौढ़ता तो देखने को मिलती ही है, साथ ही अभिव्यक्त अनुभवों की प्रमाणिकता भी इनकी कविताओं का प्राण है, जिसके कारण ये कविताएँ बोधक तो हैं ही, बेधक भी हैं।''[14]

इस तरह से देखें तो हिंदी दलित कविताओं की यात्रा इतनी आसान नहीं रही है। उनकी लड़ाई दोहरी है। एक तरफ जहाँ उनका युद्ध रुढ़ीग्रष्त भारतीय मानसीकता से है तो वहीं दूसरी ओर साहित्य में उपस्थित कुलीनतावादी सोच से। बावजूद इसके हिंदी दलित कविता अपनी जद्दोजेहदी स्वभाव और अटूट जिजीविषा के कारण अपने पथ पर निरन्तर अग्रसर होती जा रही है। इनके इसी स्वभाव को देखते हुए आलोचक नामवर सिंह को भी कहना पड़ा "इसका भविष्य उज्ज्वल है। इसमें बहुत संभावनाएं हैं।''[15]

3.2 ओमप्रकाश वाल्मीकि और उनका कविता-संसार

ओमप्रकाश वाल्मीकि हिंदी दलित कविता का पर्याय है। उनके बिना हिंदी दलित कविता 'जल बिन मछली' के समान है। हिंदी दलित कविता पर कोई चर्चा हो या विमर्श बिना उनके उल्लेख पूरा नहीं होता। वाल्मीकि जी स्वयं दलित है और एक दलित होने के कारण उनकी कविताओं में गहन स्वानुभूति व्यक्त हुई है। उन्होंने जो भोगा, देखा उसे ही कविता में व्यक्त किया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के चार कविता-संग्रह हैं - (1) सदियों का संताप (2) बस ! बहुत हो चुका (3) अब और नहीं और (4) शब्द झूठ नहीं बोलते। ओमप्रकाश वाल्मीकि के इन चारों कविता-संग्रहों में दलित चेतना के स्वर सुनाई देता है। इन कविताओं में दीन-हीन, थके-हारे, पीड़ित-शोषित जन में ऊर्जा भरने की ताकत है।

'सदियों का संताप' ओमप्रकाश वाल्मीकि का पहला कविता-संग्रह है, जिसका प्रकाशन सन् 1989 ई. में फिलहाल प्रकाशन, देहरादून से हुआ। प्रस्तुत संग्रह को वाल्मीकि जी ने युगपुरुष डॉ. अम्बेडकर को समर्पित किया है, जिन्होंने दलितों को आदमी की तरह जीना सीखाया। इस संग्रह में कुल उन्नीस कविताएँ हैं। इस कविताओं का अनुवाद विभिन्न भारतीय भाषाओं में हुआ है। यह कविता-संग्रह हिंदी दलित साहित्य के लिए मील का पत्थर साबित हुआ है। इस संग्रह की कविताओं ने परम्परावादी कविताओं को सवालों के घेरे में खड़ा किया। प्रस्तुत कविता-संग्रह के माध्यम से

वाल्मीकि जी ने सदियों से चली आ रही संस्कृति के दोहरे मापदंडों, समाज व्यवस्था के खोखलेपन, धार्मिक कठमुल्लेपन का पर्दाफाश किया है। वास्तव में 'सदियों का संताप' कविता-संग्रह सदियों से मूक जनों की आवाज़ है। इस संग्रह में संकलित कविताएँ हैं – 'ठाकुर का कुँआ', 'युग चेतना', 'मानचित्र', 'ज्वालामुखी', 'चोट', 'शंबुक का कटा सिर', 'तनी मुट्ठियाँ', 'झाडू वाली', 'कुदाल', 'पत्थर', 'सदियों का संताप', 'धुरी पर घूमती पृथ्वी', 'कविता और फसल', 'हथेलियों में थमा सिर', 'तब तुम क्या करोगे ? आदि।

'सदियों का संताप' पूर्ण रूप से दलित चेतना की कविताओं का संग्रह है। दलित-साहित्य आन्दोलन को हिंदी में स्थापित करने में इस छोटी-सी पुस्तक ने अहम भूमिका निभाई है। हिंदी दलित साहित्य में यह संग्रह मील का पत्थर साबिह हुआ है। इस संग्रह की कविताओं ने परम्परावादी भारतीय मानसिकता को वर्णवादी दायरे से बाहर निकाला और साथ ही पूर्व स्थापित परम्परावादी कविता को सवालों के घेरे में ला खड़ा किया। इसकी अभिव्यक्ति कवि ने अपने ही सहज, सरल और यथार्थ की भाषा में किया है। कवि की अभिव्यक्ति में कहीं आक्रोश है तो कहीं विद्रोह।

'बस्स ! बहुत हो चुका' ओमप्रकाश वाल्मीकि का दूसरा कविता-संग्रह है। यह कविता-संग्रह सन् 1997 ई. में वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इस संग्रह की कविताओं को ओमप्रकाश वाल्मीकि ने दलित चेतना के प्रखर कवि हीरा डोम को समर्पित किया है। प्रस्तुत कविता-संग्रह की कविताएँ दलित जीवन के दाहक अनुभवों की सशक्त अभिव्यक्ति है। संग्रह में कविताएँ इस प्रकार हैं – 'पेड़', 'मिट्टी के कच्चे घर', 'मुट्ठी भर चावल', 'शायद आप जानते हो', 'वह मैं हूं', 'अंधेरे की नदी', 'खेत उदास है', 'कच्ची मुंडेर पर', 'घृणा तुम्हें मार सकती है', 'यातना', 'हिंसा का अर्थ', 'पंडित का चहेरा', 'अकाल', 'हवा', 'धूप और धरती', 'रास्ते की धूल अभी मौजूद है', 'घृणा और प्रेम कहाँ से शुरू होते हैं', 'वह दिन कब आयेगा', 'सत्य की परिभाषा', 'मेरे पुरखे', 'शख्सियत की पहचान', 'शब्द साथ नहीं देते', 'वसंत को मरे तो युग बीत गये', 'अच्छे लगते हैं', 'भय', 'वंशज', 'वे नहीं जानते', 'जाति', 'कविता सिर्फ कविता नहीं होती', 'खामोश आहटें', 'बस्स ! बहुत हो चुका' आदि। इस संग्रह की कविताओं पर अपनी टिप्पणी देते हुए दलित आलोचक शरणकुमार लिंबाले लिखते हैं –"संग्रह की हर कविता मेरी बयान लगती है। मेरी पीड़ा और प्रश्न इन कविताओं में दिखाई दिये।''[16]

ओमप्रकाश वाल्मीकि मुख्यतः दलित चेतना के कवि हैं, इसलिए उनकी सभी रचनाओं में दलित चेतना के स्वर मुख्य रूप में सुनाई देता है। 'बस्स! बहुत हो चुका' कविता-संग्रह में भी दलित जीवन के दाहक अनुभवों और जीवन संघर्ष की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। कवि ने अपने इस संग्रह की

कविताओं में दलितों की संतप्ता को उसकी तिक्तता के साथ कभी सीधे तो कभी प्रतीकात्मक रूप से संप्रेषित किया है। कवि ने हमेशा दलितों के शोषण के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई है। भारतीय समाज में दलितों के अस्मिता की पहचान पर प्रश्न खड़ा किया है। इसीलिए प्रस्तुत संग्रह की भाषा में भी आक्रोश और विद्रोह दिखाई देते हैं।

'अब और नहीं...' ओमप्रकाश वाल्मीकि का तीसरा कविता-संग्रह है, जिसका प्रकाशन सन् 2009 ई. में राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली से हुआ। प्रस्तुत कविता-संग्रह को ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपने अम्मा और बाबा को समर्पित किया है। 'अब और नहीं...' कविता-संग्रह का शीर्षक खुद-ब-खुद साफ शब्दों में बयां करता है कि अब अत्याचार का घड़ा भर चुका है। अब और सहन नहीं किया जा सकता। कविता संग्रह की भूमिका में ओमप्रकाश वाल्मीकि जी लिखते हैं -''अब और नहीं... संग्रह की कविताओं में ऐतिहासिक संदर्भों को वर्तमान से जोड़कर मिथकों को नए अर्थों में प्रस्तुत किया हैं।''[17] इस कविता-संग्रह में कुल मिलाकर इक्कावन छोटी-लंबी कविताएँ हैं। संग्रह में निम्नलिखित कविताएँ संकलित हैं –'लेखा-जोखा', 'अस्थि-विसर्जन', 'आईना', 'जूता', 'जो मेरा कभी भी नहीं हुआ', 'जाति', 'किषृंिकधा', 'अंगूठे का निशाना', 'दीवार के उस पार', 'काले दिनों में', 'गोदामों में बंद रोशनी', 'कोई खतरा नहीं', 'खाली हाथ', 'दहलीज', 'कोलाहल', 'हमलावर', 'विस्फोट', 'सदी का आखरी पहर', 'मौत का चेहरा', 'एक और युद्ध', 'शब्द झूठ नहीं बोलते', 'अपने हिस्से की रोटी', 'चुप्पी टूटेगी', 'विध्वंस बनकर खड़ी होगी नफरत', 'सजा', 'इतिहास', 'विरासत', 'अब और नहीं' आदि।

'अब और नहीं...' कविता संग्रह की कविताओं में कवि ने एक ओर वर्ण-व्यवस्था के प्रति अपना विद्रोह व्यक्त किया है तो दूसरी ओर दलित वर्ग की महत्ता को भी स्थापित किया है। इस संग्रह की कविताओं के माध्यम से कवि से स्पष्ट किया है कि किस तरह अन्याय और अत्याचार की पीड़ा प्रतिहिंसा को जन्म देती है। कवि का मानना है कि आज दलित जिस उलगुलान की बात कर रहा है, वह सभी सवर्ण समाज के अन्याय और प्रतिहिंसा का ही परिणाम है।

'शब्द झूठ नहीं बोलते' कविता-संग्रह ओमप्रकाश वाल्मीकि का अंतिम कविता-संग्रह है। इसका प्रकाशन वर्ष सन् 2012 ई. है। इस संग्रह में कुल 44 कविताएँ हैं। ये सारी कविताएँ वर्ष 2005 से 2011 के बीच लिखी गई है। इस संग्रह की कविताओं में प्रकृति अपनी सहज रूप में आई है और अपना गहरा प्रभाव छोड़ गई है। कवि ने यहाँ मनुष्य और प्रकृति के अंतर्संबंध को दिखाया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि प्रस्तुत कविता-संग्रह की भूमिका में लिखते हैं –''मनुष्य और प्रकृति, भाषा और संवेदना का गहरा रिश्ता है, जो इन कविताओं में नदी, शब्द, जीवन, बारिश और इसके बीच

निरंतरता में जूझता मनुष्य बार-बार आता है।''[18] इस संग्रह की कविताएँ हैं – 'अंधेरे में शब्द', 'शब्द और ब्रह्म', 'उन्हें डर है', 'तुम्हारी जीत', 'वसुधैव कुटुंबकम', 'ज्यादा बुरे दिनों के इंतजार में', 'बंधुआ शब्द', 'लोकतंत्र या ...?', 'फरमान', 'जाति-अहंकार', 'उत्सव', 'भाग्य-विधाता', 'बिलोडन', 'माँ और नदी', 'मुक्ति-संघर्ष', 'हथेली पर उगा सूर्य', 'पहाड़', 'जूता', 'अस्थि-विसर्जन', 'बिटिया का बस्ता', 'संस्कृति बनाम सैक्स', 'भोपाल-कांड', 'खानाबदोस' आदि।

ओमप्रकाश वाल्मीकि हिंदी दलित साहित्य के एक मुकम्मल कवि हैं। उन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से दलितों के जीवन-संघर्ष को बड़ी ही मार्मिकता के साथ व्यक्त किया है। उन्होंने अपने चारों कविता-संग्रहों में वर्णवादी व्यवस्था तथा परम्परावादी मानसिकता से सदियों से शोषित, पीड़ित दलितों के संघर्ष-यात्रा को प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से समाज में फैली छुआछूत, ऊँच-नीच, जाति-पांत, अंधश्रद्धा एवं बाह्याडम्बरों का विरोध किया है और एक समतामूलक और समाजवादी समाज के निर्माण पर जोर दिया है। वास्तव में उनकी कविताएँ महात्मा फुले और डॉ. अम्बेडकर की विचारधारा को आगे बढ़ाने का काम करती हैं।

ओमप्रकाश वाल्मीकि हमारे समय के एक महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य कवि हैं, जिन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से कविता का विषय-वस्तु और उसकी शैली ही बदल दी। उनकी कविताएँ नए मानव की उन्मुक्त सोच की अभिव्यक्ति है। उनकी कविताओं में दलित चेतना किस रूप में आयी है और उनकी क्या-क्या विशेषताएं हैं, उसे हम आगे देख सकते हैं।

3.3 दलित समुदाय का यथार्थ चित्रण

ओमप्रकाश वाल्मीकि सिर्फ दलितों के कवि ही नहीं महाकवि हैं। वे स्वयं एक दलित थे और दलित होने के कारण उन्होंने दलितों के दुःख-दर्द और जीवन-संघर्ष को देखा और अनुभव किया था। दलितों के इसी दुःख-दर्द और संघर्ष का सम्मिश्रण है वाल्मीकि की कविता। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं का यथार्थ सदियों से दमित, प्रताड़ित, अपमानित एवं वंचित समुदाय का यथार्थ है, जिसे मनुष्य योनि नहीं, पशु योनि के काबिल समझा जाता है। इसी सोच के कारण दलित समुदाय को हजारों सालों से सभी मानवीय मौलिक अधिकारों से वंचित रखा गया। कभी उन्हें शिक्षा से दूर रखा गया तो कभी सर्वाजनिक जगहों में पानी पीने से रोका गया तो कभी बंधुआ मजदूर बनाया गया आदि-आदि। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताएँ इसी जाति भेद, लिंग भेद, वर्ण भेद का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करती हैं। इन सभी भेदभाव और छुआछूत के मूल में वर्ण-व्यवस्था है। इसी वर्ण-व्यवस्था की पोल खोलते हुए कवि अपनी कविता 'कभी सोचा है' के माध्यम से कहते हैं -

“वर्ण-व्यवस्था को तुम कहते हो आदर्श

खुश हो जाते हो

साम्यवाद की हार पर

x x x

कभी सोचा है

गंदे नाले के किनारे बसे

वर्ण-व्यवस्था के मारे लोग

इस तरह क्यों जीते हैं?

तुम पराये क्यों लगते हो उन्हें

कभी सोचा है?”[19]

भारतीय वर्ण-व्यवस्था बेहद क्रूर और अमानवीय है। यह दलितों के लिए असंवेदनशील है। बावजूद इसके आज भी कुछ लोग इस व्यवस्था को आदर्श मानते हैं। ऐसे लोग कहते फिरते हैं कि पूरे विश्व में हिंदू धर्म और उसकी संस्कृति अन्य धर्म और सभ्याताओं से सर्वश्रेष्ठ हैं। ऐसी मानसिकता वाले लोगों को वाल्मीकि की कविता सोचने पर मजबूर करती है। आखिर ऐसा कौन-सा कारण है कि समाज का एक तबका गंदगी भरे वातावरण में जीने के लिए मजबूर है ? ओमप्रकाश वाल्मीकि प्रश्न करते हुए पूछते हैं ‘कभी सोचा है ?’ इसका एक मात्र कारण है-वर्ण-व्यवस्था। शोषण की जड़ भारतीय वर्ण-व्यवस्था में है। इस व्यवस्था का निर्माण करने वाला और कोई नहीं बल्कि ब्राह्मण, जमींदार, ठाकुर आदि हैं। इन लोगों ने वर्ण के साथ-साथ कार्य-विभाजन भी स्वार्थपूर्ण ढंग से किया। जिसमें ब्राह्मणों का काम पढ़ना-पढ़ाना, क्षत्रियों का काम शासन करना और लड़ना, वैश्यों का खेती और व्यापार करना और शूद्रों का काम ऊपर के तीनों वर्णों की गुलामी करना। यही कार्य विभाजन शूद्र अर्थात् दलितों के दलित और शोषित होने का कारण बना। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी कविता ‘ठाकुर का कुँआ’ में इसकी ओर इशारा करते हुए कहते हैं -

“चूल्हा मिट्टी का

मिट्टी तालाब की

तालाब ठाकुर का।

भूख रोटी की

रोटी बाजरे का

बाजरा खेत का

खेत ठाकुर का।

बैल ठाकुर का

हल ठाकुर का

हल की मूठ पर हथेली अपनी

फसल ठाकुर की।

कुँआ ठाकुर का

पानी ठाकुर का

खेत-खलिहान ठाकुर के

गली-मुहल्ले ठाकुर के

फिर अपना क्या?

गाँव?

शहर?

देश?''[20]

'ठाकुर का कुँआ' कविता वर्णवादी भारतीय समाज की सभी आवरण उतार कर रख देती है। प्रस्तुत कविता इस बात की साक्षी है कि स्वतन्त्रता के सत्तर साल बित जाने के बाद भी दलित वर्ग सवर्णों की गुलामी से नहीं छूट पाया है। आज भी दलितों के पास ऐसा कुछ नहीं है जिसे वह अपना कह सकें। जिसपर दलित अपना अधिकार जमा सकें। प्रस्तुत पंक्ति के माध्यम से वाल्मीकि जी किसी एक दलित जाति के शोषण की बात नहीं कर रहे हैं। बल्कि वह उन तमाम दलितों की बात कर रहे हैं,

जो भूमिहीन, खेतीहर मजदूर और सर्वहारा है। जमीन ठाकुर की है और उसपर हल चलाने का काम दलित जाति के लोग करते हैं। तालाब, खेत, बैल, हल, पानी, कुँआ आदि सब-के-सब जमीनदार, ठाकुरों का है। कहीं भी दलितों को अपनापन महसूस नहीं होता। इसीलिए ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता सीधा-सीधा प्रश्न पूछती है कि दलितों के हिस्से में क्या है ? गाँव ? शहर ? देश ? प्रस्तुत कविता पर टिप्पणी करते हुए दलित लेखक कँवल भारती कहते हैं -“ ‘ठाकुर का कुआँ’ जातिव्यवस्था का प्रतीक नहीं है, बल्कि सामंतवादी और पूँजीवादी व्यवस्था का प्रतीक है। कुँआ का अर्थ है पानी, जिसके बिना जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती और जीवन के ये सारे संसाधन इसी सामंती और पूँजीवादी व्यवस्था के हाथों में हैं। उत्पादन करने वाली जातियाँ और मेहनतकश लोग सब-के-सब इसी व्यवस्था के गुलाम हैं। इसी यथार्थ को ओमप्रकाश वाल्मीकि ने इस कविता में व्यक्त किया है।’’[21]

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता का स्वभाव ही प्रश्नकर्ता का है। उनकी कविता सदियों से चले आ रहे इतिहास, संस्कृति और परम्परा पर प्रश्न खड़ा करती है। उनका प्रश्न अबोध प्रश्न नहीं है, ये सारे प्रश्न संस्कृत समीक्षा से उपजी है। यह प्रश्न उन अबोध दलितों का है जिसने अभी-अभी विद्यालय का प्रांगण देखा है। जिनका परिचय अक्षरों से ‘अभी बिल्कुल अभी’ हुआ है। उनके अंदर चेतना जगने लगी है। अब वह प्रश्न करने का हिम्मत जूटा पा रही हैं। कवि के शब्दों में

> “एक रोज मैंने भी
>
> जुटाई हिम्मत
>
> और पूछ लिया उससे
>
> वही सवाल
>
> देखा उसने मेरी ओर
>
> बोला, मैं जन्मा हूँ ब्रह्म के मुख से
>
> इसलीए श्रेष्ठ हूँ।
>
> ताज्जुब है!
>
> मनुष्य का जन्म तो होता है

सिर्फ माँ के गर्भ से

फिर आप कैसे पैदा हो गये

ब्रह्म के मुख से ?''[22]

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता में सामाजिक यथार्थ है। जिसे कवि ने बेबाकी से सामने रखा है। कवि सीधा-सीधा सवाल करते हैं कि वह अछूत क्यों है? क्यों समाज उसे प्रताड़ित करता है? इसलिए कवि अपनी कविता 'युग चेतन' में इतिहास को कटघरे में खड़ा करते दिखाई देते हैं-

''इतिहास यहाँ नकली है

मर्यादाएँ यहाँ सब झूठी

हत्यारों की रक्त रंजित उँगलियों पर

जैसे चमक रही

सोने की नग जड़ी अंगूठियाँ।''[23]

दलित समाज सदियों से शोषण और उपेक्षा का शिकार हुआ है। इसलिए कवि बार-बार इतिहास के पन्नों को उलटकर देखते हैं। कवि इतिहास के स्याह पन्नों पर लिखी दलितों की इबारत को भूल पाने में असमर्थ है। कवि इतिहास के प्रत्येक पन्नों पर प्रश्न करता है। कवि को इतिहास से नफरत है क्योंकि इतिहास सवर्णों का पुलिंदा है। उनमें जो कुछ भी है वह सवर्णों द्वारा सवर्णों के लिए है। दलितों के हित, सम्मान और अधिकार का इसमें कोई जिर्क तक नहीं। इसलिए कवि को समूचा इतिहास पाखंड लगता है -

''मैंने दुःख झेले

सहे कष्ट पीढ़ी-दर-पीढ़ी इतने

फिर भी देख नहीं पाये तुम

मेरे उत्पीड़न को

इसीलिए युग समूचा

लगता है पाखण्ड मुझे।''[24]

इसतरह से ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं में दलित संवेदना का यथार्थ और अनुभूतिपरक अभिव्यक्ति हुई है। उन्होंने अपनी कविता के माध्यम से अपनी जाति और जाति समूह को सशक्त आवाज देने की भरपूर कोशिश की है। इस अमानवीय व्यवस्था का पालन-पोषण सदियों से हिन्दुत्वादी सांस्कृतिक व्यवस्था करती आ रही है। इन्हीं की छत्रछाया में यह व्यवस्था पल-बढ़ रही है। कवि इस जाहिल व्यवस्था से टकराना चाहते हैं। इसे सुधारना नहीं, समाप्त करना चाहते हैं।

3.4 वर्ण-व्यवस्था के प्रति क्षोभ

वर्ण-व्यवस्था भारतीय समाज की सबसे बड़ी सच्चाई है। वर्णाश्रम व्यवस्था से निकली जाति व्यवस्था कालांतर में जन्म के आधार पर हुई। अपने को सर्वोच्च मानने वाली ब्राह्मण जाति ने अन्य जातियों के इतिहास को धीरे-धीरे पीछे ढकेल दिया। राजा-महाराजाओं के दौर में ब्राह्मण राजगुरु का पद पा गए और शास्त्रों की व्याख्या करके ब्राह्मण वर्ग को ऊँचा घोषित करने लगे। परिणामस्वरूप यह हुआ कि हजारों सालों से शूद्र-अतिशूद्र जातियाँ ब्राह्मणों की गुलामगिरी सहते रहें। इसीलिए ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी कविताओं के माध्यम से ब्राह्मणों की गुलामगिरी के प्रति गहरा क्षोभ व्यक्त किया है। कवि जानते हैं कि जाति-व्यवस्था और वर्ण-व्यवस्था ने सामाजिक संवेदना को रौंद डाला है। उनका कहना है कि ये जातियाँ धर्म पुराने पाखंड कर्मकांड में से बाहर निकलकर ही दलितों का उद्धार होगा क्योंकि जाति धर्म रोजी-रोटी नहीं देता और ना ही दलितों का विकास होगा। कवि सीधे-सीधे लिखते हैं -

> “अंबेडकर की आदमकद मूर्ति के पास बैठा
>
> मोची चीखता है ऊँची आवाज में
>
> किस हरमजादे की देन है वह जाति।”[25]

‘मोची’ को ‘मोची’ बनाने में जाति-व्यवस्था की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। कवि जानते हैं कि वर्ण-व्यवस्था ने ही दलितों की प्रगति को रोका और उनका उत्पीड़न किया। कवि वर्ण और जाति के आधार पर फैलाई गई विषमता के विरुद्ध संघर्ष के लिए एक भूमिका गढ़ते हैं। कवि जाति और वर्ण-व्यवस्था का कड़ा विरोध करते हुए लिखते हैं

> “जाति आदिम सभ्यता का
>
> नुकीला औजार है

जो सड़क चलते आदमी को

कर देता है छलनी

एक तुम हो

जो अभी तक चिपके हो जाति से।''[26]

लेकिन इसका अर्थ यह कतई नहीं है कि दलित इस व्यवस्था से निकलना नहीं चाहता। कवि यहाँ दलितों की दीनता को नहीं उनके पराक्रम को रेखांकित करना चाहते हैं। यह दलितों की धर्मभीरुता थी, जिसने उन्हें जाति व्यवस्था के बंधनों में रहने के लिए विवश किया। पर अब अत्याचार का घड़ा भर गया है। दलित अब वर्ण-व्यवस्था के पिंजरे को तोड़ने के लिए तैयार है। वे अब अपना बाहें फड़फड़ाने लगे हैं -

"बहुत हो चुका

शोषण

प्रताड़ना

और उपेक्षा

बस अब मेरा ज्वालामुखी फट पड़ेगा।''[27]

जातिवाद का बर्बर चित्र प्रस्तुत करते हुए कवि को अब जाति से नफरत होने लगी है। यह मनुष्य को तीर की तरह छलनी कर देती है। यानि अछूत जाति पर सवर्णो के द्वारा किये जाने वाले आत्याचार से अपमान बोध होने पर भी आज हम जाति से जुड़े हुए हैं? कवि प्रश्न करते हुए पूछते हैं

"न जाने किसने तुम्हारे गले में

डाल दिया है, जाति का फंदा

जो न तुम्हें जीने देता है न हमें।''[28]

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता का विद्रोह मानव निर्मित जाति व्यवस्था से है। जिसके कठोर बंधनों के कारण अस्पृश्यता का अभिशाप भोगती हुए मानवता पीने के पानी के लिए तरसती है। कवि लिखते हैं

"चार घरों में बैठकर

जब करते हो दार्शनिक विवेचन

समाज व्यवस्था का

मुझे याद आते हैं

बचपन के दिन

जब प्यास लगने पर

खड़ा रहना पड़ता था घंटो।''[29]

ओमप्रकाश वाल्मीकि दलितों के दर्द और संघर्ष के कवि हैं। वे अपनी पीढ़ियों को आँसुओं के सैलाब से नहीं बल्कि विद्रोंह की चिंगारियों से सींचते हैं। दलितों को स्वाभिमान और सम्मान से जीने का सलीका सिखाते हैं। कवि जाति व्यवस्था को सिरे से खारिज करते हैं। कवि अपनी अस्मिता को दसों दिशाओं में फैलाना चाहते हैं। उनका मानना है कि इस पुरानी संस्कृति को जो धर्म, कर्मकांड से जर्जर हुई और उसके विरोध में निर्माण हुआ विद्रोह जाति व्यवस्था को नकारता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता इन सबको नष्ट करने के लिए प्रवृत्त है।

3.5 सामाजिक-सांस्कृतिक विद्रोह

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं में सामाजिक और सांस्कृतिक विद्रोह का स्वर भी सुनाई देता है। वाल्मीकि की कविताओं में जहाँ एक ओर उनकी आत्माभिव्यक्ति दिखाई देती है तो वहीं इसके साथ दलित समुदाय की पीड़ाओं को सशक्त रूप में अभिव्यक्ति मिली है। उनकी कविताओं में समाजवादी दृष्टि से व्यक्ति, युगीन परिवेश को परखने का सफल प्रयास हुआ है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की व्यक्तिगत पीड़ा दलित समूह की पीड़ा से मिलकर एक सशक्त आवाज का रूप धारण कर लेती है। कवि चूहड़ा जाति समूह की गरीबी पर कविता लिखते हुए कहते हैं

"मिट्टी के कच्चे घर

बिना रोशनदान

बर्षों करते हैं इंतजार

सूर्य की भूली-भटकी किरण का

था फिर ढह जाते हैं चुपचाप

किसी बरसात रात में।''[30]

ओमप्रकाश वाल्मीकि ऐसी सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था का विद्रोह करते हैं जो सिर्फ ऊपर से चमकीला, मंगलमय और संभ्रांत है और भीतर से विसंगतिपूर्ण और सड़ा गला। आधुनिकता के नाम पर जिस संस्कृति को नई पीढ़ी ने अपनाया है। उसमें मानवीय संबंधों को इसी दायरे में कैद होना पड़ा है। अच्छे जीवन की तलाश में आदमी भटकता नजर आता है। ऐसे में कवि की अमानवीयता सभी तरफ दिखाई देती है। कवि ऐसी दिखावी आधुनिकता का विरोध पूर जोर से करते हैं। कवि के शब्दों में

"मिलते हैं हर रोज

साथ-साथ पढ़ते हैं अख़बार

गुनगुनी धूप में पसर कर

करते हैं बातें

दुनिया जहान की

भावुकता भरे क्षणों में

करते हैं कोशिश

बाँट लेने की

अपने-अपने दुःख

फिर भी रह जाता है बहुत कुछ

गोपनीय

भावुकता लोमड़ी में बदल जाती है

दूर हो जाते हैं

छिटक कर

परस्पर गुँथे सूत्र

अलग-अलग छोर से गूँजती

प्रतिध्वनियाँ।''[31]

कवि कहते हैं कि आज का मनुष्य सिर्फ दिखावा करता है। यहाँ संबंध केवल दिखावा हो गया है। विपदा आने पर मनुष्य-मनुष्य को पहचानने से इंकार कर देता है। एक-दूसरे का दुःख-दर्द बाँटने की भावना खत्म हो गई है। यूँ तो वे हर रोज मिलते हैं पर मुश्किलों में कोई भी साथ नहीं देता। इसी बात को लेकर कवि के मन में भाव जागृत होता है। कवि अपने आप को भरी भीड़ में भी अजनबी पाता है। इसलिए ओमप्रकाश वाल्मीकि ऐसे मानव-संस्कृति का पूर जोर विरोध करते हैं।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता परिवेश और उससे जुड़े दलित जीवन के पहलुओं को व्यक्त करती है और उनकी आवाज दबाने वाली समाज व्यवस्था, जाति व्यवस्था और सांस्कृतिक व्यवस्था को ऊँचे स्वरों में विरोध करती है। इस विरोध और विद्रोह में जो तड़प और हिम्मत है वही ओमप्रकाश वाल्मीकि की कवित का मूल्य है। 'सदियों का संताप' काव्य-संग्रह यथार्थ के आधार पर जीवन को अभिव्यक्त करने की एक अदम्य कृति है। सदियों का दलित अब किसी से भी लड़ने की हिम्मत रखता है-

''जब तुम ऋच्चाओं को

दोहराते हो

पवित्र नदियों में

स्नान कर रहे थे

पढ़ रहे थे मंत्र श्लोक

ऊँची आवाज में

मंदिर के भीतर प्रकोष्ठ में।''[32]

यहाँ ओमप्रकाश वाल्मीकि ने हिंदू धर्म में प्रस्थापित अमानवीय रूढ़ी-प्रथाओं का विरोध किया है। हिंदूओं द्वारा दलितों को नदी, तालाब, कुंओं आदि सार्वजनिक स्थलों में पानी ना पीने देना, मंदिरों से दलितों को उपेक्षित रखना, यहाँ तक की मंदिरों में पढ़े जाने वाले मंत्र-श्लोकों को भी दलितों को ना सुनने देना आदि प्रचलित है। इसीलिए कवि हिंदू धर्म की ऐसी ऊँच-नीच वाली कुप्रथाओं का जड़ से विरोध करते हैं।

3.6 विद्रोह और आक्रोश का स्वर

विद्रोह और आक्रोश ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं का पैना हथियार है। कवि सामाजिक ऊँच-नीच के खिलाफ बेहद आक्रोशित है। इसीलिए उनकी कविता का जन्म ही विद्रोह और आक्रोश के साथ हुआ है। यह विद्रोह और आक्रोश किसी तत्कालीन प्रतिक्रिया के खिलाफ नहीं, यह हजारों साल के अनुभवों की प्रतिक्रिया है। इसके मूल में सादियों से भोगी हुई वेदना, अपमान और यातना है। स्वयं ओमप्रकाश वाल्मीकि अपना कविता-संग्रह 'सदियों का संताप' की भूमिका में कहते हैं – "दलित कविता के आक्रोशित स्वर में जो आंतरिक भावबोध है, उसका संबंध ऐतिहासिक संदर्भों में विद्यमान हैं। दलित कवि एक मनुष्य की तरह जीना चाहता है, क्योंकि एक मनुष्य की तरह सम्मान से जीने का उसे अधिकार मिलना चाहिये। जो उसे वर्ण-व्यवस्था के सामाजिक प्रतिबंधों ने छीना है। इसीलिए दलित कविता में वर्ण-व्यवस्था विरोध, सामाजिक विषमता के प्रति गहरा विक्षोभ दिखाई देता है। जाति-भेद से उपजी अस्पृश्यता की भावना को दलित कवि मनुष्य विरोधी मानता है।"[33]

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता चुप्पी के विरुद्ध आवाज है। उनकी कविता सदियों से दमित, शोषित जनों की चुप्पी को विद्रोह और आक्रोश में तबदील करती दिखाई देती है। कवि जानते हैं कि जातिगत पीड़ा से मुक्ति संघर्ष से प्राप्त हो सकती है, चुप रहकर नहीं। क्योंकि चुप्पी स्वयं दलितों के लिए खतरनाक साबित हुआ है-

"मैं जानता हूँ

चुप्प रहना

कितना मंहगा पड़ा है!"[34]

कवि अपनी कविता के माध्यम से चुप्पी को तोड़ने की बात करते हैं। चुप्पी ही दलितों के शोषित और दमित होने का कारण बना है। इसीलिए वाल्मीकि अपनी कविता के माध्यम से दलितों

के अंदर चेतना जगाने का काम करते हैं, ताकि दलितों में शोषण और उत्पीड़न के खिलाफ आक्रोश जगे और विद्रोह करें-

“जितना रहोगे चुप

मारे जाओगे बेदर्दी से उतना ही

उनके हाथों में होंगे

तमंचे, बंदूक, लाठी, डंडे, हथगोले

साथ होगी पुलिस, सेना, शक्ति

और तुम निहत्थे

मारे जाओगे

बचकर भागने से पहले ही

तुम्हारी चुप्पी ही हो जायेगी खड़ी

तुम्हारा रास्ता रोककर।’’[35]

ओमप्रकाश वाल्मीकि जी अपनी जनताओं से कहते हैं कि अब चुप्प रहने से कुछ नहीं होगा। अब व्यवस्था के खिलाफ अपनी-अपनी आवाज बुलंद करनी ही होगी क्योंकि अब अत्याचार का घड़ा भर गया है। अब समय शोषण, उत्पीड़न पर विराम लगाने का है। समय जवाब देने का है। कवि साफ-साफ शब्दों में कहने लगे हैं ‘बस! बहुत हो चुका’

“बस्स!

बहुत हो चुका

चुप रहना

निरर्थक पड़े पत्थर

अब काम आयेंगे सन्तप्त जनों के!’’[36]

कवि का कहना है कि अब अत्याचार का घड़ा भर गया है। अब अत्याचार, शोषण, दमन का सुदर्शन चक्र ज्यादा दिन नहीं चलेगा। शोषण सहने की शक्ति अब खत्म हो चुकी है। इतने सालों से हम सवर्णवादी गुलामी की जंजिरों में जीते रहें हैं। अब और नहीं सहना है।

“बहुत दिन जी चुके हताशा और नैराश्य के बीच

कलाबाज़ियों और चतुराई भरे शब्दों का

खेल हो चुका

अब और नहीं

तय करना होगा

कहाँ खड़े हो तुम

साये या धूप में!”[37]

दलित अब पूरी तरह से जग चुका है। शिक्षा ने उनके ज्ञानेन्द्र खोल दिया। अब वह किसी का गुलामी पसंद नहीं करेगा। अब शोषण, प्रताड़ना और उपेक्षा नहीं सहेगा। अबतक उनकी पीढ़ियों ने गुलामी सही, मूखे-नंगे रहकर सवर्णों की बहुत सेवा किए। लेकिन दलितों की नयी पीढ़ी को ऐसी जिन्दगी पसंद नहीं। इसलिए अब यह पीढ़ी इस अनैतिकतावादी और अमानवीय व्यवस्था के विरोध आक्रोश और प्रतिशोध की भावना निमार्ण कर रही है। बकौल कवि -

“मेरी पीढ़ी ने अपने सीने पर

खोद लिया है संघर्ष

जहाँ आँसुओं के सैलाब नहीं

विद्रोह की चिंगारी फूटेगी

जलती झोपड़ी से उठते धुएं में

तनी मुठियाँ

तुम्हारे तहखानों में

नया इतिहास रचेगी।''[38]

कवि समाज के हर घृणित पक्ष पर असहमति दर्ज करते हैं। कवि सदियों से चले आ रहे जातिगत वर्णभेद को नकारते हैं। जिस संस्कृति ने मनुष्य और मनुष्य के बीच दीवार खड़ी की है, उस संस्कृति को नकारते हैं। कवि सालों-दर-सालों की गुलामी को खत्म करना चाहते हैं। दलित कोई पालतु पशू की तरह नहीं बल्कि मनुष्य की तरह जिंदगी जिना चाहता है। उसे वह सारा अधिकार चाहिए जो एक आम-नागरीक का है। कवि के अंदर आक्रोश इस तरह से भरा हुआ है कि पूरी की पूरी जाति व्यवस्था को खत्म करना चाहते हैं। आक्रोश ने अब ज्वालामुखी का रूप धारण कर लिया है जो कभी, किसी वक्त फट सकता है। कवि के शब्दों में -

''सूर्य की एक किरण

घने बादलों के बीच चमककर

मुझे जगा गई है

मेरे हाथों की शक्ति

सहनशीलता, फौलादी दृढ़ता

हिला देगी जाति-व्यवस्था को।

बहुत हो चुका

शोषण,

प्रताड़ना

और उपेक्षा

बस, अब मेरा ज्वालामुखी फट पड़ेगा।''[39]

कवि मनुवादी संस्कारों के विरुद्ध है। उसे हिंदूवादी संस्कृति से घृणा है। कवि को बाह्यडंबर और ढोंगीपन से सक्त नफरत है। तभी वह सनातन धर्म के मानने वालों की गंगा में स्नान करने से इंकार कर देता है। कवि अपने शब्दों में इसका विरोध करते हुए कहते हैं-

''इस लिए तय कर लिया मैंने

नहीं नहाऊंगा ऐसी किसी गंगा में

जहाँ पहले से गिद्ध नजरें गड़ी हों

अस्थियों के बीच रखे सिक्कों

और दक्षिणा के रुपयों पर

विसर्जन से पहले ही

झपट्टा मारने के लिए बाज की तरह।''[40]

अंबेडकरी चेतना के विस्तार के कारण अब दलित वर्ग जान गया है कि उनकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति सोचनीय है और इसका बहुत बड़ा कारण है दलितों का ब्राह्मणवादी धर्म-संस्कृति के प्रति झुकाव और उसका अंधानुकरण। इसलिए कवि विद्रोही भाषा में कहता है कि गंगा स्नान से कुछ नहीं होता, यह दलितों को ठगने का एक षड़यंत्र मात्र है। दलित इसी कर्मकांड के नाम पर सदियों से ठगता आया है लेकिन अब दलित वर्ग इस धार्मिक-सांस्कृतिक जाल को समझ गया है। अतः दलित वर्ग अब इस सवर्णवादी धार्मिक सांस्कृतिक रूढ़ियों का विरोध करने लगा है।

3.7 परिवर्तन और आशावादी स्वर

ओमप्रकाश वाल्मीकि के साहित्य लेखन का उद्देश्य ही अमानवीय व्यवस्था में परिवर्तन लाना है। इसी उद्देश्य को केन्द्र में रखकर ही उन्होंने संपूर्ण कविताएँ लिखी गई हैं। उन्होंने अपनी कविता में वर्णवादी और जातिवादी व्यवस्था का नंगा रूप चित्रण किया है। इसी व्यवस्था के कारण ही दलित सदियों से भूखा और नंगा है। वह सालों से उत्पीड़न और शोषण सहता आ रहा है। इसी व्यवस्था के तहत एक दलित 'बेगारी' करने के लिए बाध्य है। इन सबके प्रति वाल्मीकि की कविता में गरहा विक्षोभ है। कवि कभी आक्रोशित हो उठते हैं तो कभी विद्रोह के लिए तत्पर खड़े हो जाते हैं। लेकिन इस विद्रोह और आक्रोश के बीच भी वाल्मीकि की कविता में एक हल्की-सी आश दिखाई देती है, जो कवि को हमेशा जिंदा रखता है। कवि अपनी कविता 'बाहर आयेंगे एक दिन' के मार्फत कहते हैं -

''पाला है भूखे बच्चों को

बहला-फुसलाकर

इस इंतजार में

कि एक रोज बित जायेंगे

ये संताप भरे दिन।''[41]

कवि आशावादी है। कवि को विश्वास है कि 'बाहर आयेंगे एक दिन' ऐसा कि कोई भी बच्चा भूख से बिलखकर नहीं मरेगा। कोई एकलव्य गुरु शिक्षा से वंचित नहीं होगा। किसी शंबूक का वध अब नहीं होगा। यहाँ 'राम राज्य' नहीं, एक ऐसा राज्य स्थापित होगा जहाँ सब समान होंगे। सब एक-दूसरे से गले मिलेंगे। भाईचारा स्थिापित होगा। कवि ऐसे दिन के लिए बहुप्रतीक्षित है। कवि व्याकुल है कि 'वह दिन कब आयेगा'

''नहीं मारा जायेगा तपस्वी शंबूक

नहीं कटेगा, अंगूठा एकलव्य का

कर्ण होगा नायक

राम सत्ता लोलुप हत्यारा।''[42]

कवि को अपने कर्म पर आस्था है और अपने संघर्ष पर विश्वास भी। यही आस्था और विश्वास कवि को कविता कर्म में आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा देती है। कवि को विश्वास है कि समाज में व्याप्त छूतअछूत की भावना मिटेगी। मंदिरों का दरवाजा ब्राह्मणों के लिए मात्र नहीं, सबके लिए खुलेगा। सभी मंदिर में जाकर पूजा कर सकेंगे। कवि कहते हैं-

''शिवालय के दरवाजे से दूर

खड़े होकर मांगी मन्नते

सही दुत्कार बामन की

यह सोच कर

कभी तो खुलेगा दरवाजा

अपने लिए भी

भीतर सोया देवता

जगेगा किसी रोज

पी जाएगा विष

बाहर आकर।''[43]

कवि यहाँ मंदिर प्रवेश की बात कर रहे हैं। वास्तव में कवि का उद्देश्य मंदिर प्रवेश नहीं है। प्रश्न समानता, मनुष्यता और अधिकार का है। कवि जानते हैं कि एक न एक दिन सामंतवाद, ब्रह्माणवाद खत्म होगा और उसकी जगह में समतावादी समाज की स्थापना होगी। कवि इसकी ओर इशारा करते हुए लिखते हैं-

"आसमान और धरती के मध्य

मौसम की

झीनी चादर ओढ़कर

लेट गये हैं हम

दिन और रात की

संधि-रेखा पर

इस इंतजार में

कि कभी-न-कभी

आसमान और धरती

एक हो जायेंगे

ठीक उसी तरह

जैसे

एक हो जाते हैं

पेट

और

हाथ

वक्त पड़ने पर।''[44]

कवि को अपार विश्ववास है कि एक दिन ऐसा प्रलय आयेगा कि धरती और आकाश एक हो जाएगा। तब समाज में सवर्णवादी मानसिकता खत्म होगी और पेट और हाथ की तरह सभी एक हो जायेंगे। उस समाज में कोई ऊँच-नीच नहीं होगा, छुआछूत की भावना नहीं रहेगी। सब समान होंगे। वल्मीकि की कविता में दलित संघर्ष को एक नयी सुबह के उजाले तक पहुंचाने की ताकत है। कवि शोषक वर्ग को बताना चाहते हैं कि 'धुरी पर घूमती पृथ्वी' इस बात का प्रतीक है कि सुबह आयेगी धीरे-धीरे और रोशनी चारों ओर फैलकर अंधेरे को उजाले में बदल देगी। बकौल कवि -

''सुबह होने से पहले

मैं, तुम्हें बता देना चाहता हूँ

कि सुबह आयेगी धीरे-धीरे

तेज रोशनी चारों ओर फैलकरे

अंधेरे को उजाले में बदल देगी।''[45]

इस तरह ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता में क्षोभ, आक्रोश और प्रतिशोध के साथ-साथ परिवर्तन और आशावादी स्वर भी दिखाई देती है।

3.8 दलित स्त्री-संघर्ष

भारतीय समाज में स्त्री, पुरुष के सापेक्ष दोयम स्थान पर है। पितृसत्तात्मक समाज-व्यवस्था के द्वारा स्त्री के स्थान को सुनिश्चित कर दिया गया है। समाज सदियों से स्त्रियों का अमानवीय तरीके से शोषण, दोहन और दलन करता आया है। और जब बात दलित स्त्रियों की होती है तो यह समस्या और सघन हो जाती है। स्त्री, वह भी दलित। स्त्री के लिए दलित होना एक दोहरा अभिशाप बन जाता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं में इन्हीं दलित स्त्री जीवन के संघर्ष को दिखाया गया है। उनके यहाँ स्त्री-संघर्ष दलित-संघर्ष जैसा ही चित्रित हुआ है। उनकी समस्याएँ दलित समाज की समस्याओं से अलग नहीं हैं। एक दलित स्त्री को स्त्री होने का दंश सदियों से झेलनी पड़ती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि जी ने अपनी कविताओं में एक दलित स्त्री को अनेक रूपों में चित्रित किया है। अपनी कविता 'झाड़ू वाली' में एक कामकाजी दलित-स्त्री के दिनचर्या के बारे में कहते हैं -

"सुबह पाँच बजे

हाथ में थामे झाड़ू

घर से निकल पड़ती है

रामेसरी

लोहे की हाथ गाड़ी धकेलते हुए

खडंग-खड़ांग की कर्कश आवाज

टकराती है

शहर की उनींदी दीवारों से

गुजरती है

सुनसान पड़े चैराहों से

करती हुई ऐलान

जागो!

पूरब दिशा में लाल-लाल सूर्य

उगने वाला है।"[46]

प्रस्तुत कविता में वाल्मीकि जी ने एक श्रमशील, विपन्न और अभावों में जीवन यापन करती एक दलित स्त्री के संघर्ष को दिखाया है। रामेसरी अपना और अपने परिवार का पेट भरने के लिए सुबह पाँच बजे हाथ में झाड़ू और लोहे की गाड़ी लेकर जिंदगी के संघर्ष में निकल जाती है। इस लौह गाड़ी से खडंग-खड़ांग की कर्कश आवाज निकलती है जो सीधा जाकर उनींदी दीवारों से टकराती है। यहाँ आवाजों का दिवारों से टकराने में भी एक संघर्ष छिपा हुआ है। यहाँ आवाज एक विद्रोह के प्रतीक के रूप में आयी है, जो व्यवस्था से छुटकारा चाहती है। रामेसरी की आवाज इतनी बुलंद है कि सोती दुनिया भी उनकी आवाज सुनकर जग जाती है। स्वतंत्रता के सत्तर साल बीत जाने के बाद भी हमारे समाज में रामेसरी संघर्षरत है। आज भी वह सुबह पाँच बजे झाड़ू और लोहे की गाड़ी लेकर पूरी

व्यवस्था को साफ करने के लिए निकलती है। व्यवस्था में कोई भारी परिवर्तन नहीं हुआ है। इसे कवि लोकतंत्र की अक्षमता के रूप में देखते हैं। इसीलिए कवि कविता के अंत में लिखते हैं -

“जब तक रामेसरी के हाथ में

खड़ांग-खांग घिसटती लौह गाड़ी है

मेरे देश का लोकतंत्र

एक गाली है!”[47]

अभिजात्य व्यवस्था स्त्री को हमेशा भोग्य मानती है। इसीलिए कभी उनका चीरहरण किया जाता है जो कभी अपहरण, तो कभी बलात्कार। कभी उसे नगरबधू बनाया जाता है, तो कभी वेश्य। बीच चैराहे पर उनकी इज्जत उतारी जाती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी कविता ’तब तुम क्या करोगे ?’ के माध्यम से यह प्रश्न अभिजात्य समाज से करते हैं -

“यदि तुम्हें,

सरेआम बेइज्जत किया जाये

छीन ली जाये संपत्ति तुम्हारी

धर्म के नाम पर

कहा जाये बनने को देवदासी

तुम्हारी स्त्रियों को

करायी जाये उनसे वेश्यवृति

तब तुम क्या करोगे?”[48]

एक दलित स्त्री को किस तरह से दोहरा अभिशाप झेलनी पड़ती है, इस पंक्ति में स्पष्ट हुआ है। दलित स्त्रियों की कोई इज्जत नहीं है। उसकी अस्मिता तार-तार की जाती है। उसकी संपत्ति छीन ली जाती है। धर्म के नाम पर उसे देवदासी या नगरबधू बनाया जाता है। उसे वेश्यवृति करने पर मजबूर किया जाता है। इस तरह से वाल्मीकि जी ने अपनी कविता के माध्यम से एक दलित स्त्री जीवन के संघर्ष का चित्रण किया है।

दलित समाज में शिक्षा की कमी है। शिक्षा की कमी के कारण दलित आज भी अनपढ़ और गंवार है। वह आधुनिकता से कोसों दूर है। एक दलित स्त्री के अनपढ़ और गंवारपन का फायदा समाज के अभिजात्य वर्ग उठाता है। वाल्मीकि जी 'पण्डित का चेहरा' नामक कविता के माध्यम से अपनी बात स्पष्ट करते हैं -

"माँ भी अनपढ़, देहातिन

जिसकी उँगलियों में बसी थी गंध

मिट्टी और गोबर की

उसे विश्वास था

पण्डित की पोथी पर

उसी तरह जैसे विश्वास था

माटी की गंध पर।"[49]

दलित माँ अनपढ़ हैं। उसे अक्षर ज्ञान नहीं है। उसने कभी विद्यालय का दरवाजा नहीं देखा। उनका और जीवन ब्राह्मणों की गुलामी करते गुजरा है। उनकी दुनिया में खेती करना, बैल जोतना और सवर्णों की सेवा करना मात्र है। इसीलिए उनके लिए सत्य वही है, जो उसे ब्राह्मण पंडित बताता है। ब्राह्मण पंडित से वह तर्क नहीं कर सकती क्योंकि उनकी चेतना अभी जगी नहीं है। यहाँ ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'पच्चीस चैका डेढ़ सौ' की याद आती है। जहाँ कहानी के मुख्य पात्र सुदीप के पिता यह मानकर बैठा है कि पच्चीस चैका डेढ़ सौ होता है। लेकिन जब सुदीप पढ़-लिखकर नौकरी करने लगता है और अपनी कमाई की पहली तनख्वाह पीताजी के हाथों देकर गिनवाता है कि पच्चीस चैका डेढ़ सौ नहीं पच्चीस चैका सौ होता है तो पिताजी की आँखें खूल जाती हैं, चौधरी का छलावा रूप को देख पाता है। कहानी का अंत पिताजी के वाक्य से होता है। पिताजी चैधर को गाली देते हुए कहता है –"कीड़े पड़ेंगे चौधरी...कोई पानी देने वाली भी नहीं बचेगा।"[50] लेकिन यहाँ इस दलित माँ की आँखें कौन खोलेगा? जिससे कि वह शोषक पंडित की वास्तविकता जान सकें।

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी कविताओं के माध्यम से एक स्त्री की आशाओं, आकांक्षाओं और इच्छाओं को बढ़े ही सरल और स्पष्ट रूप में परिभाषित किया है। उन्होंने अपनी कविता के मार्फत स्त्री के मन में झांका है। एक स्त्री समाज से ज्यादा कुछ नहीं चाहती। उसे इज्जत, सम्मान और

अधिकार चाहिए। उसे भी खुली हवा में सांस लेने की इच्छा है। उसे भी घर, परिवार, समाज में अपनी बात रखने का अधिकार है। 'मुट्ठी भर सुकून' कविता के माध्यम से कवि वाल्मीकि जी ने स्त्री के आंतरिक विचारों को प्रस्तुत किया हैं -

"हर एक दुनिया है

जिसे वह पकड़ना चाहती है

भीतर एक दुनिया है

जिसे वह जानना चाहती है

आँगन में

पेड़ की तरह खड़ा भय

उसे शक्तिहीन कर देता है।''[51]

यहाँ स्त्री स्वतंत्रता और सुरक्षा के बीच फंसी है। एक स्त्री स्वतंत्र होकर जिना चाहती है। वह घर की चार दीवारी से निकलकर बाहर आना चाहती है। संस्कृति के जाल को फेंक देना चाहती है। लेकिन दूरसी तरफ पितृसत्तात्मक समाज उसे ऐसा करने से रोकता है। पितृसत्तात्मक समाज उसे शक्तिहीन कर देता है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं में जिस तरह एक दलित पुरुष इतिहास, संस्कृति और समाज से प्रश्न करता है, ठीक उसी तरह उनकी कविताओं में दलित स्त्रियाँ भी भारतीय व्यवस्था और पितृसत्तात्मक ढ़ांचे से विद्रोह करके एक बुनियादी सवाल उठा रही है। ये स्त्रियाँ स्त्री-स्वाधीनता ही नहीं स्त्री-अधिकार के मुद्दे भी उठाने लगी हैं।

3.9 भाषा

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं की भाषा की बात की जाए तो उन्होंने अपनी कविताओं के लिए सहज, सरल और आम बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है। उन्होंने उसी भाषा का प्रयोग किया है जिस भाषा का प्रयोग दलित अपने दैनिक जीवन में करता है। एक ऐसी भाषा जो दलितों की पीड़ा, अपमान और व्यथा तथा जन-सामान्य की आशा-आकांक्षाओं के यथार्थ को सही-सही रूप में अभिव्यक्त करती हो। उन्होंने अपनी कविताओं के लिए पारम्परिक तत्सम प्रधान, संस्कृतनिष्ठ और

काव्य-शास्त्रीय भाषा का प्रयोग कम-से-कम और साधारण जन और सर्वग्राही आम बोलचाल की भाषा का अधिक प्रयोग किया है। उनकी भाषा अलंकारिक तथा काल्पनिक भाषा ना होकर यथार्थ परक भाषा है। बकौल वाल्मीकि दलित कविता की भाषा पर अपना विचार रखते हुए कहते हैं -"यहाँ यह कहना भी असंगत नहीं होगा कि दलित कविता ने अपनी एक भाषा निर्मित की है। जिसका रूप यथार्थ से जुड़ा है। जो सहज ढंग से साहित्य के संस्कारों और सामाजिक सरोकारों से अपनी अभिव्यक्ति निर्मित करती है। दलित कवि का यही रूप उसे विशिष्ट बनाता है।''[52]

हिंदी साहित्य के कुछ तथाकथित आलोचक ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं पर गद्यात्मकता का आरोप लगाते हैं। इस बात को लेकर कोई दोराय नहीं है कि उनकी कविता में गद्यात्मकता है, लेकिन इसके साथ ही पद्यात्मकता भी उनकी कविता में देखने को मिलती है। या यूँ कहे कि वाल्मीकि की कविता गद्य और पद्य का अद्वितीय संगम है। उनकी कविता में दोनो विशेषताएँ देखने को मिलती हैं। कविता सपाटबयानी है, क्योंकि यह दलितों के जीवन की विसंगतियों, उत्पीड़न, शोषण और दमन को अभिव्यक्त करने के लिए है। कवि अपनी कविता 'शायद आप जानते हों' में साफ-साफ लहज़े में वर्ण-व्यवस्था के ठेकेदारों से पूछ लेते हैं -

"चूहड़े या डोम की आत्मा

ब्रह्म का अंश क्यों नहीं है

मैं नहीं जानता

शायद आप जातने हों !''[53]

ओमप्रकाश वाल्मीकि की प्रस्तुत पंक्तियाँ भले ही आलोचनाशास्त्र के पारम्परिक मापदंड़ों पर फीट न बैठती हो, लेकिन अभिव्यक्ति और संवेदना के स्तर पर एक पाठक को झकझोर देती हैं। यह प्रश्न मात्र कवि का नहीं है, यह प्रश्न हर उन दलित और शोषित जनों का है जिन्होंने सदियों से अवहेलना झेली है। उसी तरह काव्यात्मकता भी उनकी अभिव्यक्ति में देखने को मिलती है। 'पेड़' कविता में कवि ने पेड़ को शोषण का प्रतीक के रूप में दिखाया है। यहाँ पेड़ एक साधारण पेड़ नहीं है, बल्कि उस शोषण और उत्पीड़न का प्रतीक है, जिसने वर्षों से दलितों का शोषण और उत्पीड़न किया है। कवि 'पेड़' को इस तरह से व्याख्यायित करते हैं -

"पेड़,

तुम पेड़ उसी वक्त तक

पेड़ हो,

जब तक ये हरे पत्ते

हिल रहे हैं

तुम्हारी टहनियों में।

x x x

पेड़,

तुम उसी वक्त तक पेड़ हो,

जब तक ये पत्ते

तुम्हारे साथ हैं

पत्ते झरते ही

पेड़ नहीं ठूँठ कहलाओगे

जीते जी मर जाओगे !''[54]

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी कविताओं में साधारण जन की भाषा के साथ-साथ तत्सम, तद्भव, देशज और विदेशज शब्दों का भी प्रयोग किया है। उनके यहाँ तत्सम शब्द जैसे 'अस्पृश्य, पटाक्षेप, क्रन्दन, अभिशाप, भुजा, वर्जनाओं, प्रताड़ित, प्रजन्न, श्लोक, मस्तिष्क, पाषाण, प्रज्वलित, पृष्ठ, शास्त्रीय, स्पर्श, घृणा आदि का प्रयोग किया है। तद्भव शब्दों में मिट्टी, भूख, बैल, गाय, मर्यादा, सुअर, डोम, पहाड़, हवा आदि। देशज शब्दों में मूठ, हथेली, ढोल, गाँव, देहात, झाड़फूक, चमारी, चमार, जोता, पूस, माघ, ढ़िबरी, उखला आदि।

ओमप्रकाश वाल्मीकि एक ऐसे कवि हैं जिनके पास अपार शब्द-भंडार है। उन्होंने ना सिर्फ तत्सम, तद्भव, देशज शब्दों का प्रयोग किया है बल्कि इसके साथ-साथ उन्होंने अपनी कविता के लिए अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग किया है। उनकी कविताओं में आए अंग्रेजी शब्द जैसे - स्कूल, प्रायमरी टीचर, पोस्टर, मास्टर, डी.एल.रोड, सायरन, लिपिस्टक, कफ्र्यु, मीटिंग, कैमरा, कार्ड, ड्राईंग रूम,

पेंटिग आदि। अंग्रेजी के साथ-साथ वाल्मीकि जी ने अपनी कविताओं में उर्दू, अरबी, फारसी के शब्दों का भी प्रयोग खूब किया है। जैसे - ज़िस्म, दर्दनाक़, इंतज़ार, खिलाफ़, सलामत, तब्दील, क़वायत, शिनाख्त, तकलीफ़ आदि।

ओमप्रकाश वाल्मीकि जी ने अपनी कविताओं में मुहवारों और लोकोक्तियों का प्रयोग भी भरपूर मात्रा में किया है। मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग से उनकी कविता पाठकों को अपनी ओर खींचने में सफल हुई है। उन्होंने अपनी कविताओं में मुहवारों और लोकोक्तियों का प्रयोग कुछ इस तरह से किया है – 'खदेड़ देना' अर्थात् 'भगा देना', 'लोहे की दीवार' अर्थात् 'मजबूत, 'अड़िग', 'जमीन पर घुटने टेक दें' अर्थात् 'हार मान जाना', 'जीते जी मर जाना' अर्थात् 'किसी लायक नहीं रहना' आदि।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की भाषा में एक प्रतिवाद है। विद्रोह है। आक्रोश है। इस प्रतिवाद, विद्रोह और आक्रोश के भीतरी ताकत को जानना है तो इसके पूर्व उनके वेदना-बोध के स्परूप और उसकी जमीन को जाँचने की जरूरत है। प्रतिवाद, विद्रोह और आक्रोश का आधार वेदना में छीपा हुआ है। उसी-से होकर निकला है यह क्रोध। ओमप्रकाश वाल्मीकि की भाषा में समाज के सच को उजागर करने की अपार शक्ति है। यह शक्ति भी उन हजारों सालों के संतप्त लोगों की चींख से मिली है।

3.10 मिथक

कविता में मिथकों का प्रयोग कोई नयी बात नहीं है। प्राचीन काल से ही कवियों ने अपनी बातों को स्पष्ट और प्रभावशाली बनाने के लिए मिथकों को माध्यम बनाया है। पारम्परिक कवियों की तरह दलित कवियों ने भी अपनी कविताओं में मिथकों का भरपूर प्रयोग किया है लेकिन इन कवियों ने अपनी कविताओं के लिए नए मिथक गढ़े हैं और साथ ही ऐतिहासिक मिथकों का पुनर्व्याख्या भी किए हैं। उन्होंने पौराणिक मिथकों की परिभाषा ही बदल दिया और मुख्यधारा के कवियों द्वारा स्थापित मिथकों पर प्रश्न खड़ा किया। दलित कवियों ने पुरातन और पौराणिक मिथकों को नायक के रूप में नहीं बल्कि खलनायक के रूप में दिखाया है। उसे उत्पीड़क और शोषकों के रूप में चित्रित किया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित कविताओं का हवाला देते हुए कहते हैं –''दलित कविता ने पारम्परिक प्रचलित मिथकों को अपनी कविता में नायकों की तरह नहीं बल्कि उत्पीड़कों, शोषकों की तरह प्रयोग किया है। उनके दलित विरोधी आदर्शों ने ऐतिहासिक संदर्भों में सिर्फ छला है। भारतीय साहित्य में चाहे वह हिंदी साहित्य हो या संस्कृत साहित्य, वहाँ शूद्र, अतिशूद्र, अन्त्यज, अस्पृश्य

आदि के लिए नकारात्मक सोच ही दिखायी देती है। इसका कारण यह है कि साहित्य में जो नायक स्थापित किये गये, वे सभी दलित विरोधी थे। वे नायक भी जिन्हें ईश्वरत्व प्राप्त था।''[55]

हिंदी के पारम्परिक कवियों ने राम को आर्दश पुरुषोत्तम के रूप में चित्रित किया है। हिंदी-काव्य राम के गुणगान और महानता से भरी हुई है। यहाँ तक की 'रामराज्य' की कल्पना तक की गई है, जिसकी गूंज आज भी सुनाई पड़ती है। लेकिन ओमप्रकाश वाल्मीकि ने इतिहास का पुनर्व्याख्या करते हुए राम को एक आदर्श पुरुषोत्तम के रूप में नहीं बल्कि एक निरंकुश और महत्त्वकांक्षी राजा के रूप में चित्रित किया है, जिन्होंने एक शूद्र ऋषि शंबूक द्वारा तपस्या किये जाने को वर्ण-व्यवस्था विरुद्ध आचारण मानकर उनकी हत्या कर दी थी। इसीलिए वाल्मीकि जी ने अपनी कविता में शंबूक को एक दलित नायक के रूप में प्रस्तुत किया है, जो दलितों के लिए चेतना स्रोत बना है। कवि अपनी कविता 'शंबूक का कटा सिर' के माध्यम से कहते हैं

''जब भी मैंने

किसी घने वृक्ष की छाँव में बैठकर

घड़ी भर सुस्ता लेना चाहा

मेरे कानों में

भयानक चीत्कारें गूंजने लगीं

जैसे हर एक टहनी पर

लटकी हो असंख्य लाशें

जमीन पर पड़ा हो शंबूक का कटा सिर।

मैं, उठकर भागना चाहता हूँ

शंबूक का सिर मेरा रास्ता रोक लेता है

चीख-चीखकर कहता है-

युगों-युगों से पेड़ पर लटका हूँ

बार-बार राम ने मेरी हत्या की है।''[56]

शंबूक वध की घटना इतिहास के लिए भले ही एक सामान्य और सहज घटना हो लेकिन ओमप्रकाश वाल्मीकि जी के लिए यह एक सोची-समझी साजिश है। शंबूक की हत्या दलित चेतना की हत्या है। इस साजिश के तहत यहाँ हजारों शंबूक हर रोज मारे जाते हैं। कवि अपने शब्दों में साफ-साफ कहते हैं -"तुम अकेले नहीं मारे गये तपस्वी/यहाँ तो हर रोज़ मारे जाते हैं असंख्य लोग।''[57] शंबूक-हत्या अर्थात् दलितों की आवाज दबाना है। इसीलिए प्रायः हर दलित कवियों ने अपनी कविताओं में शंबूक को दलित नायक के रूप में पेश किया है।

जिस तरह हिंदी के पारम्परिक कवियों ने राम को महान राजा और एक सक्षम योद्धा के रूप में दिखाया है ठीक उसी तरह इन कवियों ने महाभारत के पात्र द्रोणाचार्य के गुरु धर्म का भी महिमा-मंड़न किया है। शूद्र बालक एकलव्य के अंगूठा कटवा लेने को हिंदी के कवि जहाँ द्रोणाचार्य का छल ना कहकर, एकलव्य की गुरुभक्ति बताता है। लेकिन ये इतिहास और इतिहासकार कवि ओमप्रकाश वाल्मीकि और उनकी पारखी नज़र को धोखा नहीं दे सकता। इसलिए वाल्मीकि जी अपनी कविता 'वह दिन कब आयेगा' के मार्फत प्रश्न करते हैं-

"मेरी माँ ने जने सब अछूत ही अछूत

तुम्हारी माँ ने सब बामन ही बामन।

कितने ताज्जुब की बात है

जबकि प्रजनन क्रिया एक ही जैसी है।

वह दिन कब आयेगा

जब बामनी नहीं जनेगी बामन

चमारी नहीं जनेगी चमार

भंगिन भी नहीं जनेगी भंगी।

तब नहीं चुभेंगे

जातीय दंश।

नहीं मारा जायेगा तपस्वी शंबूक

नहीं कटेगा अंगूठा एकलव्य का

कर्ण होगा नायक

राम सत्ता लोलुप हत्यारा।

क्या ऐसे दिन कभी आयेंगे।''[58]

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने ऐतिहासिक पौराणिक मिथकों द्वारा दलित जीवन की विसंगतियों और सामाजिक संदर्भों की वास्तविकता को रेखांकित किया है। उनके यहाँ सुग्रीव एक सच्चे मित्र के रूप में नहीं बल्कि एक सत्ता-लोभी के रूप में आया है जिसने किष्किन्धा का राजकुमार बनने के लोभ में अपने ही भाई बालि का वध राम के हाथों करवाया था। 'किष्किन्धा' कविता के माध्यम से कवि कहते हैं -

"बालि: जो मारने गया था राक्षस

गुफ़ा के भीतर

द्वार पर खड़ा करके सुग्रीव को

बहता लहू देखकर

कर दिया था बंद गुफ़ा-द्वार

सुग्रीव ने

फँसाकर बड़ा-सा पत्थर

और हथिया ली थी सत्ता।''[59]

'किष्किन्धा' पहले बालि का राज्य था लेकिन बाद में उसे छल-से सुग्रीव ने हथिया लिया। लेकिन इस छलि भाई सुग्रीव को तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' में एक 'लोक नायक' के रूप में दिखाया है और बालि को 'खलनायक' के रूप में। लेकिन ओमप्रकाश वाल्मीकि ऐसे कवि हैं जो इतिहास के गहन अंधाकार में गोता लगाते हैं और वहाँ से सत्य रूपी मणि लाकर सबके आगे प्रस्तुत करते हैं। एक छलि शासक को पाकर किष्किन्धा की जनता की क्या स्थिति है इसे कविता में देखी जा सकती है-

"किष्किन्धा रोई थी उस रोज़

जार-जार

अंधेरे में मुँह छिपाकर

जूझना पड़ा था बालि को

बाहर आने के लिए

हटाना पड़ा था पत्थर

जो अवरोधक था उजाले का।''[60]

शंबूक, एकलव्य, बालि, सुग्रिव, कर्ण, सीता ये सब के सब मिथक ब्रह्मणवादी समाज के पक्षधर कवियों ने ही रचा है। लेकिन अब यही मिथक दलितों की जिजीविषा और विद्रोह का प्रतीक बन गया है। दलित कवियों ने इन्हीं पात्रों के माध्यम से दलित जीवन की स्थितियों को उभारा है और अब इन्हीं ऐतिहासिक पात्रों के माध्यम से दलित अस्मिता की तलाश भी करते नजर आ रहे हैं। इसीलिए कवि अपनी कविता में कहते हैं-

"तुम्हारे रचे शब्द

तुम्हें ही डसेंगे साँप बनकर

गंगा किनारे

कोई वट वृक्ष ढूंढकर

भगवान का पाठ कर लो

आत्मतुष्टि के लिए

कहीं अकाल मृत्यु के बाद

भयभीत आत्मा

भटकते-भटकते

किसी कुत्ते या सूअर की मृत देह में

प्रवेश न कर जाये

या किसी पुनर्जन्म की लालसा में

किसी डोम या चूहड़े के घर

पैदा न हो जाय !''[61]

इन सारी विशेषताओं के साथ-साथ वाल्मीकि की कविता में और कुछ ऐसी विशेषताएँ भी हैं जो उनकी कविताओं को अन्य दलित कवियों की कविताओं से अलगाता है। हिंदी साहित्य में दलित-साहित्य लेखन की शुरुआत अगर हम ओमप्रकाश वाल्मीकि के साहित्य से माने तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगा। हिंदी में जब कभी भी दलित साहित्य की चर्चा होती है तो बात 'स्वानुभूति' बनाम 'सहानुभूति' की होती है। 'स्वानुभूति' बनाम 'सहानुभूति' को लेकर हिंदी साहित्य में लम्बी चर्चा हुई है। कई बढ़े-बढ़े साहित्यकारों ने इसमें बड़ा-बड़ा लेख भी लिख डाला। लेकिन ओमप्रकाश वाल्मीकि पहले कवि हैं जिन्होंने कविता के मार्फत स्वानुभूति और सहानुभूति को स्पष्ट रूप में परिभाषित किया है। कवि अपनी कविता 'कविता और फसल' के माध्यम से इसका स्पष्टीकरण देते हैं-

"ठण्डे कमरों में बैठकर

पसीने पर लिखना कविता

ठीक वैसा ही है

जैसे राजधानी में उगाना फसल

कोरे कागजों पर।

फसल हो या कविता

पसीने की पहचान हैं दोनों ही।''[62]

उन्होंने अपनी कविता के माध्यम से दलितों के प्रति झूठी सहानुभूति रखने वाले गैर दलित कवियों पर तीखा वार किया है। कवि का मानना हैं कि बिना दलितों की आंतरिक छटपटाहट को समझे उनपर कविता लिखना एयरकंडीशन रूम में बैठकर फसल उगाने के बराबर है। फसल उगाने के लिए तपती-जलती धूप, वर्षा, कीचड़ आदि से जूझना पड़ता है। कड़ा परिश्रम करना पड़ता है। पसीना

बहाना पड़ता है। तब जाकर आपको फसल मिल पाता है। ठीक उसी तरह दलितों पर कविता लिखने के लिए भी आपको दलित जीवन को सिर्फ समझना ही नहीं बल्कि जीना होगा। ऐसा नहीं कर पाने से आप दलित कविता से न्याय नहीं कर पायेंगे, ऐसा करना बेमानी है। कवि साफ-साफ शब्दों में कहते हैं-

“बिना पसीने की फसल

या कविता

बेमानी है।’’[63]

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता पाठक के समक्ष कविता के रूप में नहीं बल्कि एक घटना के रूप में आती है। उनकी कविता समकालीन घटनाओं का ‘मानचित्र’ प्रस्तुत करती है। उनकी कविताओं का शीर्षक ही सारी घटनाओं को बया करता है। जैसे- भोपाल-कांड, साल 2010 का आखिरी दिन, बारिश-2010 आदि। कवि ने अपनी कविताओं में बार-बार गोहना, मिर्चपुर, झज्जर और खैरलांजी आदि घटनाओं का जिर्क किया है। ये सभी घटनाएँ भारतीय इतिहास में दलितों के नरसंहार के रूप में याद किया जाता है। ये सारी घटनाएँ नागरिक अधिकारों पर एक बर्बर हमले हैं-

“गोहना, मिर्चपूर, झज्जर

और खैरलांजी...

रच देना

बाएं हाथ का खेल है।’’[64]

हम सब जानते हैं कि गोहना, मिर्चपूर, झज्जर और खैरलांजी में क्या हुआ था? दलितों पर हमला किया गया था। हजारों दलितों के घर जला दिए गए थे। दलितों को अपना गाँव छोड़ना पड़ा था। कइयों की जानें चली गई थीं। इतने नरसंहार के बावजूद दलितों का पक्ष लेने वाला कोई नहीं था। ना न्याय व्यवस्था और ना ही मीडिया। इसीलिए कवि साफ-साफ कहते हैं -

“मुझे विश्वास था-

पुलिस, प्रशासन

न्यायपालिका

प्रधानमंत्री,

राष्ट्रपति,

चुनाव और मानवाधिकार आयुक्त,

तथाकथित राष्ट्रभक्त,

साहित्य के मठाधीश

चुप नहीं रहेंगे

अफसोस!

उनकी विवशता

मुझसे भी ज्यादा खतरनाक थी...''[65]

कवि को न्याय व्यवस्था से भरोसा उठ गया है। कवि को लोकतांत्रिक व्यवस्था में आस्था नहीं रही है। क्योंकि लोकतंत्र में लोक के लिए कुछ नहीं है। यहां न्याय भी जाति के आधार पर मिलती है। यहां जन्म से लेकर मूत्यु तक का 'लेखा-जोखा' जाति को देखकर लिखा जाता है। इसीलिए वाल्मीकि जी ने लोकतंत्र को 'हुजूर की रखैल' कहा है। कवि लोकतंत्र पर तीखा प्रहार करते हुए कहते हैं-

"यह कैसा लोकतंत्र है भाई?

जहां चुनाव, नौकरी, इज्जत

योग्यता, शिक्षा

सब जाति तन्त्र तय करता है।''[66]

इस तरह से देखें तो ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताएँ सत्य को परिभाषित करती है। ये कविताएँ शोषित, दमित, उपेक्षित और संघर्षशील मनुष्य के पक्ष में खड़ी हैं। इन्हीं शोषित, दमित, उपेक्षित और संघर्षशील मनुष्य का सौन्दर्य ही उनकी कविताओं का सौन्दर्य है। सदियों से जीर्ण-शीर्ण अवस्था में रहे जन की आंतरिक छटपटाहट है उनकी कविता। वाल्मीकि जी की कविताएँ एक कविता के रूप नहीं बल्कि एक घटना के रूप में पाठकों के सामने आती हैं, जो कहीं-किसी रोज़ हमारे

आँखों के आगे घटी हो। उनकी कविताएँ भोगी हुई यथार्थ की अनुभूती और संवेदनाओं से बनी हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि एक ऐसे कवि हैं जो समय, समाज और व्यक्ति को लोकर चलते हैं। समय, समाज और व्यक्ति के संबंध को वाल्मीकि जी कभी भूलते नहीं और ना अपनी कविताओं के माध्यम से दूसरों को भूलने देते हैं। अपनी कविताओं के माध्यम से वे एक नए मानव की स्थपना करना चाहते हैं जो समय, समाज और व्यक्ति को लेकर चलें।

संदर्भ-सूची:-

1. भारती, कँवल, दलित कविता का संघर्ष, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, 2012, पृ. 13
2. समकालीन भारतीय साहित्य, मार्च-अप्रेल, 2014, पृ. 195
3. राम, डॉ. तुलसी, चिंतन की परम्परा और दलित साहित्य, आकाश प्रकाशन, पृ. 60
4. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, कबीर, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, छब्बीसवाँ संस्करण, 2019, पृ. 242
5. भारती, कँवल, संत रैदान: एक विश्लेषण, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर, द्वितीय संस्करण, 2000, पृ. 168
6. दलित अस्मिता, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ दलित स्टडीज की त्रेमासिक पत्रिका, प्रवेशांक (अक्टूबर-दिसंबर, 2010) , वर्ष-1, अंक-1, संपादक-विमल थोरात, नयी दिल्ली, पृ. 13
7. वही, पृ. 15
8. Dr. Baba Sahib Ambedker: writing and speeches, vol. 17 part one, Dr. B.R.Ambedker source material publication committee, Higher Education Department. Government of Maharashtra. Barrack No. 18. Opp. Mantralaya, Mumbai, First Edition, 4 Oct. 2003, page-202
9. समकालीन भारतीय साहित्य, जुलाई-दिसंबर, 1994, पृ. 159
10. हंस, 1992, पृ. 72
11. हम दलित, कँवल भारती, जुलाई, 1997, पृ. 77
12. कर्दम, जय प्रकाश, स्वामी अछूतानन्द और उनका साहित्य, राजपाल सिंह 'राज' (लेख), दलित साहित्य: 1999, पृ. 75
13. समकालीन भारतीय साहित्य, मई-जून,1996, पृ. 170
14. सिंह, डॉ. एन, दलित साहित्य के प्रतिमान, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2012, पृ. 27
15. हंस, 2004, पृ. 195
16. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, बस्स! बहुत हो चुका, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1997, भूमिका।
17. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, अब और नहीं..., राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2009, भूमिका।
18. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, शब्द झूठ नहीं बोलते, अनामिका प्रकाशन, दिल्ली, 2012, भूमिका।
19. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, सदियों का संताप, गौतम बुक सेन्टर, 2012, दिल्ली, पृ. 50
20. वही, पृ. 13
21. भारती, कँवल, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, 2012, पृ. 314
22. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, अब और नहीं..., राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2009, पृ. 69
23. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, सदियों का संताप, गौतम बुक सेन्टर, 2012, दिल्ली, पृ. 24
24. वही, पृ. 24
25. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, अब और नहीं..., राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2009, पृ. 14
26. वही, पृ. 20
27. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, सदियों का संताप, गौतम बुक सेन्टर, 2012, दिल्ली, पृ. 18
28. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, अब और नहीं..., राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2009, पृ. 21
29. वही, 34

30. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, बस्स! बहुत हो चुका, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1997, पृ. 22
31. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, अब और नहीं..., राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2009, पृ. 57
32. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, सदियों का संताप, गौतम बुक सेन्टर, 2012, दिल्ली, 41
33. वही, भूमिका।
34. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, बस्स! बहुत हो चुका, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1997, पृ. 71
35. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, अब और नहीं..., राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2009, पृ. 97
36. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, बस्स! बहुत हो चुका, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1997, पृ. 80
37. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, अब और नहीं..., राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2009, पृ. 105
38. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, सदियों का संताप, गौतम बुक सेन्टर, 2012, दिल्ली, पृ. 30
39. वही, पृ. 31
40. वही, पृ. 8
41. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, बस्स! बहुत हो चुका, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1997, पृ. 20
42. वही, पृ. 104
43. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, बस्स! बहुत हो चुका, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1997, पृ. 75
44. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, सदियों का संताप, गौतम बुक सेन्टर, 2012, दिल्ली, पृ. 36
45. वही, 47-48
46. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, सदियों का संताप, गौतम बुक सेन्टर, 2012, दिल्ली, पृ. 31
47. वही, पृ. 34
48. वही, 51
49. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, बस्स! बहुत हो चुका, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1997, पृ. 33
50. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, सलाम, राधाकृष्ण, दिल्ली, दूसरी आवृत्ति, 2014, पृ. 84
51. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, बस्स! बहुत हो चुका, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1997, पृ. 58
52. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, सदियों का संताप, गौतम बुक सेन्टर, 2012, दिल्ली, भूमिका।
53. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, बस्स! बहुत हो चुका, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1997, पृ. 13
54. वही, पृ. 11
55. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, सदियों का संताप, गौतम बुक सेन्टर, 2012, दिल्ली, भूमिका।
56. वही, पृ. 26
57. वही, पृ. 26
58. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, बस्स! बहुत हो चुका, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1997, पृ. 103
59. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, अब और नहीं..., राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2009, पृ. 22
60. वही, पृ. 22-23
61. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, बस्स! बहुत हो चुका, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1997, पृ. 13
62. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, सदियों का संताप, गौतम बुक सेन्टर, 2012, दिल्ली, पृ. 20

63. वही, 20
64. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, शब्द झूठ नहीं बोलते, अनामिका प्रकाशन, दिल्ली, 2012, पृ. 30
65. वही, पृ. 27
66. वही, पृ. 33